

मित्रो

मुझे जातपात तोड़क मंडल के सदस्यों की स्थिति पर निश्चय ही खेद है, जिन्होंने इस सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिए मुझे आमंत्रित करने की महती कृपा की है। मुझे यकीन है कि अध्यक्ष के रूप में मेरा चुनाव करने पर उनसे अनेक प्रश्न पूछे जाएंगे। मंडल को इस बात को स्पष्ट करने के लिए कहा जाएगा कि उसने लाहौर में हो रहे समारोह की अध्यक्षता करने के लिए बंबई से किसी व्यक्ति को क्यों बुलाया है। मुझे विश्वास है कि मंडल को इस समारोह की अध्यक्षता करने के लिए मुझसे कहीं अधिक योग्य व्यक्ति आसानी से मिल सकता था। मैंने हिन्दुओं की आलोचना की है। मैंने महात्मा के प्रभुत्व पर संदेह प्रकट किया है, जिन्हें वे श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। वे मुझसे घृणा करते हैं। उनके लिए मैं उनके बाग में एक सांप के समान हूँ। इसमें संदेह नहीं कि राजनीतिक मनोवृत्ति के हिन्दू इस मंडल से इस बात का स्पष्टीकरण मांगेंगे कि इस सम्मानजनक पद के लिए मुझे क्यों बुलाया गया है। यह एक बड़े साहस का काम है। अगर कुछ राजनीतिक हिन्दू इसे अपमान समझते हैं तो मुझे इस पर कोई आश्चर्य नहीं होगा। इस पद पर मेरे चुनाव से निश्चय ही धार्मिक प्रवृत्ति के सामान्य हिन्दुओं को प्रसन्नता नहीं होगी। मंडल से इस बात को स्पष्ट करने के लिए कहा जाएगा कि उसने अध्यक्ष के चुनने में शास्त्रीय निषेधादेश की अवज्ञा क्यों की। शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण को ही तीनों वर्गों का गुरु नियुक्त किया जाता है। 'वर्णानाम ब्राह्मणों गुरु', यही शास्त्रों का निर्देश है। इसलिए मंडल जानता है कि एक हिन्दू को किससे शिक्षा लेनी चाहिए और किससे नहीं। शास्त्र किसी हिन्दू को गुरु रूप में किसी भी ऐसे व्यक्ति को मात्र इसलिए कि वह ज्ञानी है, स्वीकार करने की अनुमति नहीं देते। यह बात महाराष्ट्र के एक ब्राह्मण संत रामदास ने काफी स्पष्ट कर दी थी, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने शिवाजी को हिन्दू राज की स्थापना के लिए प्रेरित किया था। रामदास 'दासबोध' नाम की अपनी मराठी काव्य रचना में जो एक सामाजिक-राजनीतिक-धार्मिक प्रबंध है, हिन्दुओं को संबोधित करते हुए पूछते हैं कि क्या हम किसी अन्त्यज को इस कारण से अपना गुरु मान सकते हैं कि वह एक पंडित (अर्थात् विद्वान) है। वह उत्तर देते हैं, नहीं। इन प्रश्नों का क्या उत्तर दिया जाए, इस मामले को मैं मंडल पर छोड़ देता हूँ। मंडल उन कारणों को बहुत अच्छी तरह जानता है कि क्यों उन्हें अध्यक्ष के लिए बंबई की यात्रा करनी पड़ी और ऐसे व्यक्ति को इसके लिए निर्धारित करना पड़ा जो हिन्दुओं का इतना विरोधी हो तथा अपने स्तर को इतना नीचे गिराकर एक अन्त्यज, अर्थात् अछूत को सवर्णों की सभा में भाषण देने के लिए आमंत्रित करना पड़ा। जहां तक मेरा प्रश्न है, मैं कहना चाहूंगा कि मैंने इस निमंत्रण को अपनी तथा अपने अनेक अछूत साथियों की इच्छा के विरुद्ध स्वीकार किया है। मैं जानता हूँ कि हिन्दू मुझसे उखड़े हुए हैं? मैं जानता हूँ कि मैं उनके लिए स्वीकार्य व्यक्ति नहीं हूँ। यह सब कुछ जानते हुए मैंने जानबूझकर अपने आपको उनसे दूर रखा है। मेरी उन्हें कष्ट पहुंचाने की कोई इच्छा नहीं है। मैं अपने ही मंच से अपने ये विचार रख रहा हूँ। इससे पहले ही काफी ईर्ष्या और उत्तेजना फैल चुकी है। मेरी जिस बात को हिन्दू सुन रहे हैं, उसे उनके मंच से उनके सामने कहने की मेरी कोई इच्छा नहीं है। मैं अपनी नहीं, बल्कि आपकी इच्छा से यहां आया हूँ। आप समाज सुधार के काम में लगे हैं। इस कार्य ने हमेशा ही मुझे प्रेरणा दी है और इसी कारण से मैंने महसूस किया है कि मुझे इस कार्य में सहायता देने के अवसर को नहीं छोड़ देना चाहिए, विशेषकर ऐसे समय जब कि आप समझते हैं कि मैं इसमें सहायता कर सकता हूँ। मैं आज जो कुछ कहने जा रहा हूँ, क्या उससे आपको उस समस्या को सुलझाने में जिससे आप जूझ रहे हैं, किसी प्रकार से कोई सहायता मिलेगी, इसका निर्णय आप करें। मैं जो कुछ करने की आशा करता हूँ, वह यही है कि मैं इस समस्या पर अपने विचार आपके सामने रखूँ।



जो न्यायसंगत थे? क्या निष्कर्ष रूप में इससे यह सिद्ध होता है कि समाज सुधार का राजनीतिक सुधार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता? यदि मैं मामले के दूसरे पहलू पर विचार करूँ तो इससे मामले को समझने में सहायता मिलेगी। मैं अपने तथ्यों के लिए अछूतों के साथ व्यवहार का उल्लेख करूँगा।

मराठा राज्य में पेशवाओं के शासन में यदि कोई हिन्दू सड़क पर आ रहा होता था तो किसी अछूत को इसलिए उस सड़क पर चलने की अनुमति नहीं थी कि उसकी परछाई से वह हिन्दू अपवित्र हो जाएगा। अछूत के लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी कलाई या गर्दन में निशानी के तौर पर एक काला धागा बांधे, जिससे कि हिन्दू गलती से उससे छूकर अपवित्र हो जाने बच जाए। पेशवाओं की राजधानी पूना में किसी भी अछूत के लिए अपनी कमर में झाड़ू बांधकर चलना आवश्यक था, जिससे कि उसके चलने से पीछे की धूल साफ होती रहे और ऐसा न हो कि कहीं उस रास्ते से चलने वाला कोई हिन्दू उससे अपवित्र हो जाए। पूना में अछूतों के लिए यह आवश्यक था कि जहां कहीं भी वे जाएं, अपने थूकने के लिए मिट्टी का एक बर्तन अपनी गर्दन में लटका कर चलें, क्योंकि ऐसा न हो कि कहीं जमीन पर पड़ने वाले उसके थूक से अनजाने में वहां से गुजरने वाला कोई हिन्दू अपवित्र हो जाए। मैं हाल ही के कुछ और तथ्यों का भी यहां उल्लेख करना चाहता हूँ। मध्य भारत की बलाई नाम की एक अछूत जाति पर हिन्दुओं द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों का जिक्र करना काफी होगा। चार जनवरी 1928 के 'टाइम्स ऑफ इंडिया' की एक रिपोर्ट आप देखें। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के संवाददाता ने समाचार दिया है कि कनरिया, बिचोली-हाफसी, बिचोली-मर्दाना गांवों तथा इंदौर जिले (इंदौर रियासत के) के 15 अन्य गांवों की ऊंची जाति के हिन्दुओं ने, अर्थात् कालोटो, राजपूतों और ब्राह्मणों, जिनमें पटेल और पटवारी भी शामिल हैं, अपने-अपने गांवों के बलाइयों को सूचित किया है कि यदि वे उनमें रहना चाहते हैं तो उन्हें नियमों का अवश्य पालन करना होगा :

- क) बलाई, सुनहरी गोटेदार किनारी की पगड़ियां नहीं बांधेंगे।
- ख) वे रंगीन या फैंसी किनारी की धोतियां नहीं पहनेंगे।
- ग) वे किसी हिन्दू की मृत्यु पर मृतक के संबंधियों को चाहे वे कितनी भी दूर क्यों न रहते हों, मरने की सूचना देंगे।
- घ) सभी हिन्दुओं के विवाहों में बलाई लोग बारात के आगे और विवाह के दौरान बाजा बजाएंगे।
- च) बलाई स्त्रियां सोने या चांदी के आभूषण नहीं पहनेंगी। वे फैंसी गाउन या जाकेट भी नहीं पहनेंगी।
- छ) बलाई स्त्रियों को हिन्दू स्त्रियों के प्रसव के सभी मामलों में देखभाल करनी होगी।
- ज) बलाई लोगों को बिना कोई पारिश्रमिक मांगे सेवा करनी होगी और हिन्दू उन्हें जो कुछ खुश होकर देंगे, लेना होगा।
- त) अगर बलाई लोग इन शर्तों का पालन करना स्वीकार नहीं करते हैं तो उन्हें गांव को छोड़ना होगा।

बलाई लोगों ने उन्हें मानने से इनकार कर दिया और हिन्दुओं ने उनके विरुद्ध कार्रवाई की। बलाइयों को गांवों के कुओं से पानी नहीं भरने दिया गया। उन्हें अपने पशुओं को चराने के लिए नहीं ले जाने दिया गया। बलाई लोगों को हिन्दुओं की भूमि से गुजरने की मनाही कर दी, ताकि यदि किसी बलाई का खेत हिन्दुओं के खेतों से घिरा हो तो बलाई अपने ही खेत तक न पहुंच सकें। हिन्दुओं ने अपने पशुओं को भी बलाइयों के खेतों में चरने के लिए छोड़ दिया। बलाइयों ने इन अत्याचारों के विरुद्ध दरबार में याचिकाएं दायर कीं, किंतु चूंकि उन्हें समय पर कोई राहत नहीं मिली और अत्याचार जारी रहा तो सैकड़ों बलाई लोग अपने बाल-बच्चों सहित अपने घरों को जहां वे पीड़ियों से रहते आ रहे थे, छोड़कर समीपवर्ती रियासतों, अर्थात् धार, देवास, बागली, भोपाल, ग्वालियर तथा अन्य रियासतों के गांवों में जाकर बसने के लिए मजबूर हो गए। अपने नए घरों में उनकी क्या स्थिति रही, उस पर फिलहाल हम विचार नहीं करेंगे। गुजरात में कविठा की घटना तो पिछले ही वर्ष घटी है।



विवाह, बाल विवाह, आदि से है, जब कि दूसरे प्रकार के समाज सुधार का संबंध जातिप्रथा के उन्मूलन से है। सामाजिक सम्मेलन एक ऐसी संस्था थी, जिसका संबंध मुख्य रूप से ऊंची जाति के प्रबुद्ध हिन्दुओं से था जो जातिप्रथा के उन्मूलन के लिए आंदोलन करना आवश्यक नहीं समझते थे, या उनमें इसके लिए आंदोलन करने का साहस नहीं था। उन्होंने जबरन विधवापन, बाल विवाह जैसी बुराइयों को जो उनमें फैली हुई थीं और जिन्हें वे खुद महसूस करते थे, दूर करने की भारी आवश्यकता को महसूस किया। वे हिन्दू समाज के प्रश्न पर ही केन्द्रित थीं। इसका संबंध जातिप्रथा को तोड़ने के अर्थ में समाज सुधार से नहीं था। समाज सुधारकों ने इस मुद्दे को कभी नहीं उठाया। यही कारण है कि सामाजिक सुधार दल समाप्त हो गया।

मैं जानता हूँ कि यह दलील इस तथ्य को नहीं बदल सकती कि राजनीतिक सुधार को वास्तव में सामाजिक सुधार से वरीयता मिली। किंतु तर्क का अगर अधिक नहीं तो इतना मूल्य तो है ही। इससे स्पष्ट होता है कि समाज सुधारक क्यों सफल नहीं हुए। इससे हमें यह भी समझने में सहायता मिलती है कि राजनीतिक सुधार दल ने सामाजिक सुधार दल के ऊपर जो विजय प्राप्त की, वह कितनी सीमित थी और यह विचार कि सामाजिक सुधार के राजनीतिक सुधार से पहले होने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा विचार केवल तभी उत्पन्न होता है जब कि समाज सुधार का अर्थ परिवार का सुधार हो। यह तथ्य कि राजनीतिक सुधार समाज के पुनर्गठन के अर्थ में सामाजिक सुधार के ऊपर वरीयता प्राप्त नहीं कर सकता। एक ऐसा शोध-प्रबंध है जिस पर मैं समझता हूँ मतभेद नहीं हो सकता।

खेद है कि आज भी जातिप्रथा के समर्थक मौजूद हैं। इसके समर्थक अनेक हैं। इसका समर्थन इस आधार पर किया जाता है कि जातिप्रथा श्रम के विभाजन का एक अन्य नाम ही है। यदि श्रम का विभाजन प्रत्येक सभ्य समाज का एक अनिवार्य लक्षण है, तो यह दलील दी जाती है कि जातिप्रथा में कोई बुराई नहीं है। इस विचार के विरुद्ध पहली बात यह है कि जातिप्रथा केवल श्रम का विभाजन नहीं है यह श्रमिकों का विभाजन भी है। इसमें संदेह नहीं है कि सभ्य समाज को श्रम का विभाजन करने की आवश्यकता है। किंतु किसी भी सभ्य समाज में श्रम के विभाजन के साथ इस प्रकार के पूर्णतः अलग वर्गों में श्रमिकों का अप्राकृतिक विभाजन नहीं होता। जातिप्रथा मात्र श्रमिकों का विभाजन नहीं है, बल्कि यह श्रम के विभाजन से बिल्कुल भिन्न है। यह एक श्रेणीबद्ध व्यवस्था है, जिसमें श्रमिकों का विभाजन एक के ऊपर दूसरे क्रम नहीं होता। जातिप्रथा के इस विचार के विरुद्ध एक तीसरा तथ्य भी है। श्रम का यह विभाजन स्वतः नहीं होता। यह स्वाभाविक अभिरुचि पर आधारित नहीं है। सामाजिक और वैयक्तिक कार्यकुशलता के लिए आवश्यक है कि किसी व्यक्ति की क्षमता को इस बिंदु तक विकास किया जाए कि वह अपनी जीविका का चुनाव स्वयं कर सके। जातिप्रथा में इस सिद्धांत का उल्लंघन होता है, क्योंकि इसमें व्यक्तियों को पहले से ही कार्य सौंपने का प्रयास किया जाता है, जिसका चुनाव प्रशिक्षित मूल क्षमताओं के आधार पर नहीं किया जाता, बल्कि माता-पिता के सामाजिक स्तर पर होता है। एक अन्य दृष्टिकोण से देखा जाए तो व्यवसायों का यह स्तरण जो जातिप्रथा का परिणाम है, निश्चय ही घातक है। उद्योग कभी भी स्थिर नहीं होता। इसमें तेजी से और अचानक परिवर्तन होते हैं। ऐसे परिवर्तनों से व्यक्ति को अपना व्यवसाय बदलने की छूट होनी चाहिए। बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार व्यक्ति को अपने आपको ढालने की ऐसी स्वतंत्रता के बिना, उसके लिए अपनी आजीविका कमाना असंभव हो जाएगा। जातिप्रथा हिन्दुओं को ऐसे व्यवसाय अपनाने की अनुमति नहीं देगा, जहां उनकी जरूरत है, यदि वे आनुवंशिक रूप से उनसे संबंधित नहीं हैं। यदि कोई हिन्दू अपनी जाति के लिए निर्धारित पेशे के अलावा नए पेशे को अपनाने की बजाय भूखा मरता दिखाई देता है, तो उसका कारण जातिप्रथा की कठोरता ही है। पेशों के पुनर्समायोजन की छूट न देकर अधिकतर बेरोजगारी फैलती है, जिसका सीधा कारण जातिप्रथा है, जो हमारे देश

में मौजूद है। श्रम के विभाजन के रूप में जातिप्रथा में एक और गंभीर दोष है। जातिप्रथा द्वारा उत्पन्न श्रम का विभाजन छांट पर आधारित विभाजन नहीं है। इसमें वैयक्तिक भावना और वैयक्तिक वरीयता का कोई स्थान नहीं है। इसका आधार स्व-नियति का सिद्धांत है। सामाजिक कार्यकुशलता का विचार हमें इस बात को स्वीकार करने पर विवश करता है कि औद्योगिक प्रणाली में सबसे बड़ा दोष केवल निर्धनता नहीं है इस प्रणाली में जो बड़ा कष्ट है, वह यह है कि बहुत ज्यादा लोग ऐसे व्यवसायों में लगे हैं जिनके प्रति उनकी प्रवृत्ति नहीं है। यदि किसी ऐसे को व्यवसाय से निरंतर लगा रहना पड़े तो उस व्यक्ति को उससे पीछा छुड़ाने, उसके प्रति सद्भावना न होने और उससे बचने की इच्छा होती है। भारत में अनेक ऐसे व्यवसाय हैं, जिन्हें हिन्दू निकृष्ट मानते हैं, इसलिए जो लोग उनमें लगे हैं, वे उनसे पीछा छुड़ाने को आतुर रहते हैं। ऐसे व्यवसायों से बचने और उन्हें त्यागने की निरंतर इच्छा बनी रहती है। इसका एकमात्र कारण वह निराशाजनक प्रभाव है, जो हिन्दू धर्म द्वारा उनके ऊपर आरोपित कलंक के कारण पड़ता है। ऐसी व्यवस्था में क्या कार्यकुशलता हो सकती है, जिसमें न तो लोगों के दिल और न दिमाग अपने काम में होते हैं? इसलिए एक आर्थिक संगठन के रूप में जातिप्रथा एक हानिकारक व्यवस्था है, क्योंकि इसमें व्यक्ति की स्वाभाविक शक्तियों का दमन रहता है और सामाजिक नियमों की तत्कालीन आवश्यकताओं की प्रवृत्ति होती है।

कुछ लोगों ने जातिप्रथा के समर्थन में जैविक दलील दी है। कहा जाता है कि जाति का उद्देश्य प्रजाति की शुद्धता और रक्त की शुद्धता को परिरक्षित रखना है। अब नृजाति वैज्ञानिकों का मत है कि विशुद्ध प्रजाति के लोग कहीं नहीं हैं और संसार के सब भागों में सभी जातियों का मिश्रण है, विशेषकर भारत के लोगों के मामले में तो यह स्थिति आवश्यक है। श्री डी.आर. भंडारकर ने 'हिन्दू जनसंख्या में विदेशी तत्व' (फारेन एलीमेंट्स इन द हिन्दू पॉपुलेशन) विषय पर अपने प्रलेख में कहा है कि "भारत में शायद ही कोई ऐसा वर्ग या जाति होगी, जिसमें विदेशी वंश का मिश्रण न हो। न केवल राजपूत और मराठा जैसी योद्धा जातियों में विदेशी रक्त का मिश्रण है, बल्कि ब्राह्मणों में भी है, जो इस सुखद भ्रांति में हैं कि वे सभी तत्वों से मुक्त हैं।" जातिप्रथा के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि उनका विकास प्रजातियों के मिश्रण को रोकने अथवा रक्त की शुद्धता को बनाए रखने के साधन के रूप में हुआ है। वास्तव में, जातिप्रथा के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि उनका विकास प्रजातियों के मिश्रण को रोकने अथवा रक्त की शुद्धता को बनाए रखने के साधन के रूप में हुआ है। वास्तव में, जातिप्रथा का जन्म भारत की विभिन्न प्रजातियों के रक्त और संस्कृति के आपस में मिलने के बहुत बाद में हुआ। यह मानना कि जातियों की विभिन्नताएं अथवा प्रजाति की वास्तविक विभिन्नताएं और विभिन्न जातियों के संबंध में यह मानना कि वे इतनी ही अधिक विभिन्न प्रजातियां थीं, तथ्यों को तोड़ना-मरोड़ना है।

पंजाब के ब्राह्मणों और मद्रास के ब्राह्मणों में क्या जातीय संबंध और पंजाब के चमारों में क्या जातीय अंतर है? मद्रास के ब्राह्मणों और मद्रास के पेरिया में क्या जातीय अंतर है? जाति की दृष्टि से पंजाब का ब्राह्मण उसी प्रजाति का है, जिसका पंजाब का चमार है, और मद्रास के ब्राह्मण की वही जाति है जो मद्रास के पेरिया की। जातिप्रथा मानव-वंश या प्रजाति के विभाजन का निर्धारण नहीं करती। जातिप्रथा तो एक ही प्रजाति के लोगों का सामाजिक विभाजन है। यदि यह मान लिया जाए कि जातिप्रथा मानव प्रजाति को विभाजित कर देती है तो यह भी सवाल किया जा सकता है कि अगर भारत में अलग-अलग जाति और रक्त के समुदायों को अंतर्विवाह करने की अनुमति दी तो विभिन्न प्रजातियों और परिवारों को एक-दूसरे में समागम से क्या हानि होगी? इसमें संदेह नहीं कि जहां तक आदमियों और जानवरों का संबंध है, उनमें इतना गहरा अंतर है कि विज्ञान इन्हें दो अलग-अलग जीव रूपों की मान्यता देता है, लेकिन जो वैज्ञानिक प्रजातियों की शुद्धता (मिश्रण-हीनता) में विश्वास करते हैं, वे भी दावे के साथ

यह नहीं कहते हैं कि अलग-अलग प्रजाति के लोग, अलग-अलग किस्म के होते हैं। वे सभी एक ही नस्ल की अलग-अलग किस्मों के होते हैं। वे एक-दूसरे की उप-जातियों में विवाह करके संतान उत्पन्न कर सकते हैं— ऐसी संतानें, जो स्वयं भी आगे संतान उत्पन्न करने में समर्थ होंगी, और जो बंध्या न होंगी। जातिप्रथा के पक्ष में आनुवंशिकता और सुजननिकी की तर्कहीन बातें बताई जाती हैं। अगर जातिप्रथा सुजननिकी (यूरनिक्स) के मूलभूत सिद्धांत के अनुकूल होती तो इसमें किसी को आपत्ति न होती, क्योंकि किसी को भी उत्तम व्यक्तियों द्वारा समागम से जाति की किस्म में सुधार लोन में आपत्ति नहीं हो सकती है। लेकिन यह समझना मुश्किल है कि जातिप्रथा के कारण उत्तम स्त्रियों और पुरुषों में सही समागम किस प्रकार सुनिश्चित होता है। जातिप्रथा नकारात्मक तथ्य है। यह केवल अलग-अलग जातियों के लोगों को आपस में अंतर्विवाह का निषेध करती है। यह ऐसा सकारात्मक उपाय नहीं है, जिससे एक ही जाति के दो उत्तम नर-नारी आपस में विवाह कर सकें। यदि जाति का उद्गम सुजननिकी के सिद्धांत पर आधारित है, तो उप-जातियों का प्रादुर्भाव भी सुजननिकी के आधार पर ही होना चाहिए। लेकिन क्या कोई गंभीरतापूर्वक यह कह सकता है कि उप-जातियों का उद्गम सुजननिकी के कारण हुआ है? मैं समझता हूँ कि स्पष्ट कारणों से ऐसा मानना बहुत ही असंगत है। अगर जाति का आशय प्रजाति या नस्ल से है, तो उप जातियों में पाए जाने वाले अंतर को प्रजातीय अंतर नहीं माना जा सकता है, क्योंकि तब उप-जातियां भी उसी परिकल्पना के आधार पर उसी एक मूल नस्ल की उप-खंड होंगी। इससे स्पष्ट है कि उप-जातियों में आपस में रोटी-बेटी के व्यवहार पर रोक लगाने का उद्देश्य प्रजाति या रक्त की शुद्धता बनाए रखना नहीं हो सकता। फिर यदि उप-जातियों का उद्गम सुजननिकी ही हो सकता, तो इस कथन में कोई दम नहीं है कि प्रजाति का उद्गम सुजननिकी है। फिर अगर यह मान भी लिया जाए कि जाति का उद्गम सुजननिकी के प्रयोजन से है, तो अंतर्विवाह संबंधी निषेध समझ में आ जाता है। लेकिन विभिन्न जातियों के बीच और विभिन्न उप-जातियों के बीच खान-पान पर भी निषेधाज्ञा लगाने का क्या प्रयोजन है? आपस में खान-पान से तो रक्त पर असर नहीं पड़ता और इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि इससे प्रजाति या नस्ल सुधरेगी या खराब होगी। इससे सिद्ध है कि जाति का कोई भी वैज्ञानिक उद्गम कारण नहीं है और जो इसे सुजननिकी के आधार पर सही बताना चाहते हैं, वे विज्ञान का नाम लेकर घोर अवैज्ञानिक विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। सुजननिकी को व्यावहारिक संभावना के रूप में तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता, जब तक हमें आनुवंशिकता के नियमों का पक्का ज्ञान न हो जाए। प्रो. बेटसन अपनी पुस्तक 'मेंडेल्स प्रिंसिपल्स ऑफ हैरिडिटी' में कहते हैं, "यदि संतान में बेहतर मानसिक गुण आए तो उसी के आधार पर यह कहना संभव नहीं है कि वे केवल किसी विशेष वंश-परंपरा के गुण के कारण ही आए हैं। हो सकता है कि जो गुण संतान में आए हैं, या जो शारीरिक शक्ति उसमें अधिक मात्रा में है, वह अनेक कारणों के होने से घटित है, न कि केवल एक आनुवंशिक तत्व के उसके शरीर में होने के कारण।" यदि यह तर्क दिया जाए कि जातिप्रथा सुजननिकी की परिकल्पना का परिणाम था, तो उसका आशय वह होगा कि आज के हिन्दुओं के पूर्वज आनुवंशिकता के विषय में उस ज्ञान से संपन्न थे, जो आधुनिक वैज्ञानिकों के पास भी नहीं है। पेड़ की जांच उसके फलों से की जानी चाहिए। अगर जाति सुजननिकी के आधार पर होती, तो उससे किस नस्ल के आदमी पैदा होने चाहिए थे? जहां तक शारीरिक क्षमता का संबंध है, उसमें हिन्दू प्रजाति सबसे घटिया किस्म (सी-3) की है। वह छोटे आकार के बौनों की जाति है, जिनका शारीरिक विकास अवरुद्ध है और जिनमें 'दम' नहीं है। भारत ऐसा राष्ट्र है, जिसकी नब्बे प्रतिशत जनता सैनिक सेवा के लिए अयोग्य है। इससे स्पष्ट है कि जाति प्रथा आधुनिक वैज्ञानिकों की सुजननिकी की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। जातिप्रथा एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है, जो हिन्दू समाज के ऐसे विकृत समुदाय की झूठी शान और स्वार्थ की प्रतीक है, जो अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार इतने समृद्ध थे कि उन्होंने इस जातिप्रथा को प्रचलित किया और इस प्रथा को अपनी जोर-जबरदस्ती के बल पर अपने से निचले तबके के लोगों पर लागू किया।



उपाय यही है कि सभी का एक—दूसरे से पूरा—पूरा संपर्क रहे। इसी शब्द को दूसरे ढंग से कह सकते हैं कि समाज आपसी संपर्क और आपसी संवाद को सतत जारी रखकर ही अपने अस्तित्व को बनाए रखता है। मूर्तरूप से कहा जाए तो सिर्फ यही काफी नहीं है कि सभी लोग वैसे ही आचरण करें, जैसे अन्य लोग कर रहे हैं। अगर अलग—अलग लोग एक जैसा ही सब कुछ कर रहे हैं, तो भी उन्हें उसी समाज का अंग नहीं माना जा सकता। यह इससे सिद्ध होता है कि हिन्दुओं की विभिन्न जातियों के लोग एक से ही त्यौहार मनाते हैं। लेकिन अलग—अलग जातियों द्वारा उन्हीं त्यौहारों के मनाए जाते रहने के बावजूद वे एक समाज में नहीं बंध पाए हैं। इसके लिए यह अनिवार्य है कि सभी लोग किसी सामूहिक कार्य में इस प्रकार मिल—जुलकर बराबरी से हिस्सा लें या भागीदारी करें कि उन सभी में भी वे ही भाव हों जिनसे शेष अन्य लोग अनुप्राणित होते हैं। लोगों को जो चीज आपस में एक सूत्र में बांधती है और उन्हें एक समाज में पूरी तरह शामिल करती है, वह यह है कि हरेक व्यक्ति को सामाजिक गतिविधियों में इस तरह हिस्सेदार या भागीदार बनाया जाए, ताकि उसकी सफलता में उसे स्वयं अपनी सफलता और उसकी विफलता में अपनी विफलता दिखाई दे। जातिप्रथा इस प्रकार की सामूहिक गतिविधियों का आयोजन नहीं होने देती और सामूहिक गतिविधियों को इस प्रकार वर्जित करके ही उसने हिन्दुओं को एक ऐसे समाज के रूप में उभरने से रोका है, जिसमें सभी समुदाय एक होकर जिए और उनमें एक ही चेतना व्याप्त हो जाए।

हिन्दुओं की नीति और आचार पर जातिप्रथा का प्रभाव अत्यधिक शोचनीय है। जातिप्रथा ने जन—चेतना को नष्ट कर दिया है। उसने सार्वजनिक धर्मार्थ की भावना को भी नष्ट कर दिया है। जातिप्रथा के कारण किसी भी विषय पर सार्वजनिक सहमति का होना असंभव हो गया है। हिन्दुओं के लिए उनकी जाति ही जनता है। उनका उत्तरदायित्व अपनी जाति तक सीमित है। उनकी निष्ठा अपनी जाति तक ही सीमित है। गुणों का आधार भी जाति ही है और नैतिकता का आधार भी जाति ही है। सही व्यक्ति के प्रति (अगर वह उनकी अपनी जाति का नहीं है) उनकी सहानुभूति नहीं होती। गुणों की कोई सराहना नहीं है, जरूरतमंद के लिए सहायता नहीं है। दुखियों की पुकार का कोई जवाब नहीं है। अगर सहायता दें तो वह केवल जाति मात्र तक सीमित है। सहानुभूति है, लेकिन अन्य जातियों के लोगों के लिए नहीं। क्या हिन्दू किसी भी महान और अच्छे व्यक्ति के नेतृत्व को स्वीकार कर सकते हैं और उसका अनुसरण कर सकते हैं? यदि कोई महात्मा हो तो उसकी बात अलग है, लेकिन सामान्य उत्तर यही है कि वह किसी नेता का अनुसरण तभी करेगा, जब वह उसकी जाति का हो। ब्राह्मण नेता को ही मानेगा, कायस्थ, कायस्थ नेता का ही अनुसरण करेगा, आदि आदि। हिन्दुओं में इस बात की क्षमता ही नहीं है कि वे अपनी जाति से भिन्न अन्य जाति के व्यक्ति के गुणों का सही मूल्यांकन कर सकें। गुणों की सराहना तभी होती है, जब वह व्यक्ति अपनी जाति का हो। उनकी पूर्ण नैतिकता उतनी ही निम्न कोटि की है, जितनी जंगली जातियों की होती है। आदमी कैसा भी हो, सही या गलत, अच्छा या बुरा, बस अपनी जाति का होना चाहिए। न उन्हें गुणों की प्रशंसा से मतलब है, न बुराई के विरोध से। उनके लिए मुद्दा सिर्फ इतना है कि अपनी जाति का पक्ष लें या नहीं। क्या हिन्दुओं ने अपनी जाति के हितों—स्वार्थों की रक्षा करने में अपने देश के प्रति विश्वासघात नहीं किया है?

अगर आप लोगों में से कुछ जातिप्रथा द्वारा उत्पन्न दुष्प्रभावों की इस ऊबने वाली चर्चा सुनते—सुनते थक गए हैं, तो मुझे आश्चर्य न होगा। इसमें कोई नई बात नहीं है। इसलिए अब मैं इस समस्या के रचनात्मक पहलू के बारे में कहना आरंभ करता हूँ। आपसे यह अवश्य पूछा जा सकता है कि अगर आप जाति के विरुद्ध हैं, तो आपके विचार से आदर्श समाज किसे कहा जा सकता है? अगर आप मुझसे पूछें तो मेरा आदर्श एक ऐसा समाज होगा, जो स्वाधीनता, समानता और भाईचारे पर आधारित हो। और ऐसा क्यों न हो? भाईचारे के विषय में क्या आपत्ति हो सकती है? मेरे विचार से तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती। आदर्श समाज गतिशील होना चाहिए। उसमें ऐसी भरपूर



है, जिसके फलस्वरूप हम एक समानता को अस्वीकार नहीं कर सकते। लेकिन समानता को स्वीकार करने का एक अन्य कारण भी है। एक राजनीतिज्ञ को असंख्य लोगों से व्यवहार करना पड़ता है। उसके पास न तो समय है और न यही जानकारी कि वह प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग पहचाने और तदनुसार यथोचित व्यवहार करे, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता या उसकी सामर्थ्य के अनुसार व्यवहार करे। मनुष्यों के प्रति न्यायोचित व्यवहार कितना ही वांछनीय या तर्कसंगत हो, तथापि विशाल जनसंख्या को वर्गीकृत करना या उन्हें अलग-अलग करना संभव नहीं है। इसलिए राजनीतिज्ञ को एक सरल और व्यापक नियम का पालन करना चाहिए और वह सरल और व्यापक नियम यह है कि सभी लोगों को एक समान माना जाए, इसलिए नहीं कि सब समान हैं, बल्कि इसलिए कि उनका वर्गीकरण या उन्हें अलग-अलग करना असंभव है। समानता का सिद्धांत पूर्णतः भ्रांतिपूर्ण है, लेकिन कुल मिलाकर यही तरीका है, जिससे कोई राजनीतिज्ञ राजनीति कर सकता है, क्योंकि राजनीति पूर्णतः व्यावहारिक विषय है, जिसकी कसौटी भी पूर्णतः व्यावहारिक होती है।

लेकिन सुधारकों का एक वर्ग ऐसा है, जिसका आदर्श कुछ और ही है। ये स्वयं को आर्यसमाजी कहते हैं। सामाजिक संगठन का इनका आदर्श चातुर्वर्ण्य, अर्थात् पूरे समाज का चार वर्गों में विभाजन है, न कि चार हजार जातियों में, जैसा कि भारत में है। अपने इस सिद्धांत को अधिक आकर्षक बनाने के लिए और विरोधियों को हतप्रभ करने के लिए चातुर्वर्ण्य के ये प्रचारक बहुत सोच-समझकर बताते हैं कि उनका चातुर्वर्ण्य जन्म के आधार पर नहीं, बल्कि गुण के आधार पर है। यहां पर पहले ही मैं बता देना चाहता हूँ कि भले ही यह चातुर्वर्ण्य गुण के आधार पर हो, किंतु यह आदर्श मेरे विचारों से मेल नहीं खाता। पहली बात तो यह है कि अगर आर्यसमाजियों के चातुर्वर्ण्य के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपने गुण के अनुसार हिन्दू समाज में स्थान मिलता है, तो मेरी समझ में यह नहीं आता कि आर्यसमाजी लोग सभी लोगों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नाम से पुकारते ही क्यों हैं। यदि किसी विद्वान को ब्राह्मण न भी कहा जाए, तो भी उसे आदर प्राप्त होगा। यदि कोई सिपाही हो, तो क्षत्रिय कहे बिना भी उसका सम्मान होगा। आर्यसमाजी लोगों का ध्यान अभी तक इस बात पर नहीं जा सका है कि अगर यूरोपीय समाज अपने सिपाहियों और सेवकों को कोई स्थायी नाम दिए बिना उनका सम्मान कर सकता है तो हिन्दू समाज को ऐसा करने में क्या कठिनाई है। इन नामों को जारी रखने में एक और भी आपत्ति है। सभी सुधारों के मूल में यह तथ्य होता है कि परिवर्तन हो जाए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वे नाम हैं, जिनकी हर हिन्दू के मस्तिष्क में एक निश्चित और रूढ़ धारणा बनी हुई है। वह धारणा यह है कि ये सभी जातियां जन्म के आधार पर एक सोपानिक क्रम में हैं। जब तक ये नाम बने रहेंगे, तब तक हिन्दू जन्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को ऊंची से लेकर निम्नतम जाति के सोपानिक क्रम में मानते रहेंगे और तदनुसार व्यवहार करेंगे। हिन्दुओं को यह सब कुछ भूल जाना होगा। लेकिन जब तक ये पुराने नाम बने रहेंगे, तब तक वह इन्हें कैसे भुला सकेंगे – ये तो उनके दिमाग में उनकी पुरानी धारणाओं को पुनःजागृत करते रहेंगे। अगर लोगों के मन में नई धारणाओं को स्थापित करना है तो उन्हें नया नाम देना भी जरूरी है। पुराने नाम को बनाए रखने का अर्थ किसी भी सुधार को निरर्थक बना देना होगा। गुण के आधार पर इस चातुर्वर्ण्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अनर्थकारी नामों से रखना – जिनसे जन्म के आधार पर सामाजिक विभाजन का संकेत मिलता है, समाज के लिए एक फन्दे की तरह है।